
इकाई 26 ध्वनि सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदाय

इकाई की रूपरेखा

- 26.0 उद्देश्य
- 26.1 प्रस्तावना
- 26.2 ध्वनि सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदाय
- 26.3 सारांश
- 26.4 शब्दावली
- 26.5 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 26.6 बोधप्रश्न
- 26.7 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

26.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- ध्वनि के विषय में आप परिचित होंगे
- ध्वनि सम्प्रदाय के विषय में आप परिचित होंगे
- ध्वनि के भेद के विषय में आप परिचित होंगे
- औचित्य के विषय में आप परिचित होंगे
- औचित्य सम्प्रदाय के विषय में आप परिचित होंगे

26.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्य शास्त्र से सम्बन्धित खण्ड चार की यह 26 वीं इकाई है इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि संस्कृत काव्य शास्त्र में –ध्वनि सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदायकी आवश्यकता क्यों पड़ी?’ संस्कृत काव्य शास्त्र में ध्वनि सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदायसमाज के लिये अत्यन्त उपयोगी है ध्वनि स्पष्टतः लक्षणा के आश्रित होती है, इसे अविवक्षितवाच्यध्वनि भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती, अर्थात् वाच्यार्थ बोधित रहता है, उसके द्वारा अर्थ की प्रतीति नहीं होती। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य में वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत रहता है— उसको लगभग छोड़ ही दिया जाता है। यह ध्वनि पदगत और वाक्यगत दोनों ही प्रकार की होती है। यहाँ अन्ध या आँधर शब्द का अर्थ नेत्रहीन न होकर लक्षणा की सहायता से ‘पदार्थों को स्फुट करने में अशक्त’ होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। इसका व्यङ्ग्यार्थ है “असाधारण विच्छायत्व, अनुपयोगित्व तथा इसी प्रकार के अन्य धम है इन सवका वर्णन इस इकाई में किया गया है।

ध्वनि का अर्थ और परिभाषा

ध्वनि की व्याख्या के लिए निसर्गतः सबसे उपर्युक्त ध्वनिकार के ही शब्द हो सकते हैं :

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके 'उस अर्थ को' प्रकाशित करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।

उपर्युक्त कारिका की स्वयं ध्वनिकार ने ही और आगे व्याख्या करते हुए लिखा है 'यत्रार्थो वाच्यविशेषो वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।'

अर्थात् जहाँ विशिष्ट वाचकरूप शब्द 'उस अर्थ को' प्रकाशित करते हैं वह काव्यविशेष ध्वनि कहलाता है।

यहाँ 'तमर्थम्' 'उस अर्थ का' वर्णन पूर्वकथित दो श्लोकों में किया गया है :

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से अलग ही भासित होता है)।

अर्थात् 'उस अर्थ' से तात्पर्य है उस प्रतीयमान स्वादु (चर्वणीय, सरस) अर्थ का जो प्रतिभाजन्य है, और जो महाकवियों की वाणी में वाच्याश्रित अलङ्कार आदि से भिन्न, स्त्रियों में अवयवों से अतिरिक्त लावण्य की भाँति कुछ और ही वस्तु है। अतएव यह विशिष्ट अर्थप्रतिभाजन्य है, स्वादु (सरस) है, वाच्य से अतिरिक्त कुछ दूसरी ही वस्तु है, और प्रतीयमान है।

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःप्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥

उस स्वादु अर्थवस्तु को बिखेरती हुई बड़े-बड़े कवियों की सरस्वती अलौकिक तथा अतिभासमान प्रतिभाविशेष को प्रकट करती है।

इस पर लोचनकार की टिप्पणी है—

“सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननव्यापारः । । स(काव्यविशेषः) इति । अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा । अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति शब्दोऽप्येवं व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति । व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति । कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव वाच्यरूपमुखतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् ।”

अर्थात् सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वननव्यापार होता है। यह 'काव्यविशेष'— का अर्थ है : अर्थ, या शब्द या व्यापार। वाच्य अर्थ भी ध्वनन करता है और शब्द भी, इसी प्रकार व्यङ्ग्य (अर्थ) भी ध्वनित होता है अथवा शब्द अर्थ का व्यापार भी ध्वनन है।

इस प्रकार कारिका के द्वारा प्रधानतया समुदाय शब्द, अर्थ—वाच्य (व्यञ्जक) अर्थ और व्यङ्ग्य अर्थ तथा शब्द और अर्थ का व्यापार ही ध्वनि है।

अभिनवगुप्त के कहने का तात्पर्य यह है कि कारिका के अनुसार ध्वनि संज्ञा केवल काव्य को ही नहीं दी गयी वरन् शब्द, अर्थ और शब्द अर्थ के व्यापार इन सबको ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि शब्द के व्युत्पत्ति—अर्थों से भी ये पाँचों भेद सिद्ध हो जाते हैं :

1. ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनि—जो ध्वनित करे या कराये वह व्यञ्जक शब्द ध्वनि है।
2. ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः—जो ध्वनित करे या कराये वह व्यञ्जक अर्थ ध्वनि है।
3. ध्वन्यते इति ध्वनिः—जो ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इसमें रस, अलङ्कार और वस्तु—व्यङ्ग्य अर्थ के ये तीनों रूप जा जाते हैं।
4. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः— जिसके द्वारा ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थ के व्यापार—व्यञ्जना आदि शक्तियों का बोध होता है।
5. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः—जिसमें वस्तु, अलङ्कार, रसादि ध्वनित हों उस काव्य को ध्वनि कहते हैं।

इस प्रकार ध्वनि का प्रयोग पाँच भिन्न—भिन्न परन्तु परस्पर सम्बद्ध अर्थों में होता है : 1. व्यञ्जक शब्द 2. व्यञ्जक अर्थ 3. व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना (व्यञ्जनाव्यापार) और व्यङ्ग्य वाच्यातिशायी होना चाहिए : वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिः (साहित्यदर्पण)। इस आतिशय्य अथवा प्राधान्य का अर्थ है चारुत्व अर्थात् रमणीयताका उत्कर्ष, 'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' (ध्वन्यालोक)। अतएव वाच्यातिशायिका अर्थ हुआ वाच्य से अधिक रमणीय—और ध्वनि का संक्षिप्त लक्षण हुआ : "वाच्य से अधिक रमणीय व्यङ्ग्यको ध्वनि कहते हैं।"

ध्वनि के भेद

ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं— 1. लक्षणामूल ध्वनि स्पष्टतः लक्षणा के आश्रित होती है, इसे अविवक्षितवाच्यध्वनि भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती, अर्थात् वाच्यार्थ बोधित रहता है, उसके द्वारा अर्थ की प्रतीति नहीं होती। लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद हैं—(अ) अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और (आ) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य से अभिप्राय है 'जहा वाच्यार्थ दूसरे अर्थ में सङ्क्रमित हो जाये' अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ बाधित होकर दूसरे अर्थ में परिणत हो जाये। ध्वनिकार ने इसके उदाहरणस्वरूप अपना एक श्लोक दिया है जिसका स्थूल हिन्दी—रूपान्तर इस प्रकार है—

तब ही गुन शोभा लहैं, सहृदय जबहिं सराहिं।

कमल कमल हैं तबहिं, जब रविकर सों विकसहिं।।

यहाँ कमल का अर्थ हो जायगा 'मकरन्दश्री एवं विकचता आदि से युक्त'—अन्यथा वह निरर्थक ही नहीं वरन् पुनरुक्तदोष का भागी भी होगा। इस प्रकार कमल का साधारण अर्थ उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ में सङ्क्रमित हो जाता है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य में वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत रहता है—
उसको लगभग छोड़ ही दिया जाता है। यह ध्वनि पदगत और वाक्यगत दोनों ही
प्रकार की होती है। ध्वनिकार ने पदगत ध्वनि का उदाहरण दिया है—

रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुशारावृतमण्डलः ।

निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥

“साँस सों आँधर दर्पन है जस बाटर ओट लखात है चन्दा ।”

यहाँ अन्ध या आँधर शब्द का अर्थ नेत्रहीन न होकर लक्षणा की सहायता से ‘पदार्थों
को स्फुट करने में अशक्त’ होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार हो जाता
है। इसका व्यङ्ग्यार्थ है “असाधारण विच्छायत्व, अनुपयोगित्व तथा इसी प्रकार के
अन्य धर्म ।”

वाक्यगत ध्वनिका उदाहरण ‘ध्वन्यालोक’ में यह दिया गया है—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।

शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

“सुबरन—पुष्पा भूमि कों, चुनत चतुर नर तीन ।

सूर और विद्या—निपुन, सेवा माँहि प्रवीन

यहाँ सम्पूर्ण वाक्य का ही मुख्यार्थ सर्वथा असमर्थ है क्योंकि न तो पृथ्वी सुवर्णपुष्पा
होती है और न उसका चयन सम्भव है। अतएव लक्षणा की सहायता से इसका यह
होगा कि तीन प्रकार के नरश्रेष्ठ पृथ्वी की समृद्धिका अर्जन करते हैं।

इस ध्वनि में लक्षणलक्षणा रहती है

लक्षणामूला ध्वनि अनिवार्यतः प्रयोजनवती लक्षणा के ही आश्रित रहती है क्योंकि
रूढ़ीलक्षणा में तो व्यङ्ग्य होता ही नहीं।

अभिधामूला ध्वनि—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह ध्वनि अभिधा पर आश्रित है इसे
विवक्षितान्यपरवाच्य भी कहते हैं। विवक्षितान्यपरवाच्य का अर्थ है : जिसमें वाच्यार्थ
विवक्षित होने पर भी अन्यपरक अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ हो। अर्थात् यहाँ वाच्यार्थ का
अपना अस्तित्व अवश्य होता है, परन्तु वह अन्ततः व्यङ्ग्यार्थ का माध्यम ही होता है।
अभिधामूला ध्वनि के दो भेद हैं: असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम। असमलक्ष्यक्रम में
पूर्वापर का क्रम सम्यक् रूप से लक्षित नहीं होता, यह क्रम होता अवश्य है और
उसका आभास भी निश्चय ही होता है, परन्तु पूर्वापर अर्थात् वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ
की प्रतीति का अनन्तर अत्यन्तात्यन्त स्वल्प होने के कारण ‘शतपत्र—भेदन्याय’ से
स्पष्टतया लक्षित नहीं होता। समस्त रसप्रपञ्च इसके अन्तर्गत आता है। संलक्ष्यक्रम
में यह पौर्वापर्यक्रम सम्यक् रूप से लक्षित होता है। कहीं यह शब्द के आश्रित होता है,
कहीं अर्थ के आश्रित और कहीं शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित। इस प्रकार इसके
तीन भेद हैं—

शब्दशक्ति—उद्भव, अर्थशक्ति—उद्भव और शब्दार्थ—उभयशक्ति—उद्भव। वस्तुध्वनि
और अलङ्कारध्वनि संलक्ष्य क्रम के अन्तर्गत ही आती हैं क्योंकि इनमें वाच्यार्थ
और व्यङ्ग्यार्थ का पौर्वापर्यक्रम स्पष्ट लक्षित रहता है।

ध्वनि के मुख्य भेद ये ही हैं। इनके अवान्तर भेदों की संख्या का ठीक नहीं।

ध्वनि की व्यापकता

उपर्युक्त प्रस्तार से ही ध्वनि की व्यापकता सिद्ध हो जाती है। वैसे भी काव्य का कोई भी ऐसा रूप नहीं है जो ध्वनि के बाहर पड़ता हो। ध्वनि की व्यापकता का दूसरा प्रमाण यह है कि उसकी सत्ता उपसर्ग और प्रत्यय से लेकर सम्पूर्ण महाकाव्य तक है। पदविभक्ति, क्रियाविभक्ति, वचन, सम्बन्ध, कारक, कृत् प्रत्यय, तद्धित प्रत्यय, समास, उपसर्गनिपात, काल आदि से लेकर वर्ण, पद, वाक्य, मुक्तक पद्य और महाकाव्य तक उसके अधिकारक्षेत्र का विस्तार है। जिस प्रकार एक उपसर्ग या प्रत्यय या पदविभक्ति मात्र से एक विशिष्ट रमणीय अर्थ का ध्वनन होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण महाकाव्य से भी एक विशिष्ट अर्थ का ध्वनन या स्फोट होता है। प्र, परि, कु, वा, डा आदि जहाँ एक रमणीय अर्थ को व्यक्त करते हैं, वहाँ 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे विशालकाय ग्रन्थ का भी एक ध्वन्यर्थ होता है जिसे आधुनिक शब्दावली में सङ्केत, मूलार्थ आदि अनेक नाम दिये गये हैं।

ध्वनि और रस

भरत ने रस की परिभाषा की है : विभाव-अनुभाव आदि का ही कथन होता है—उनके संयोग के परिपाकरूप रस का नहीं, अर्थात् रस वाच्य नहीं होता। इतना ही नहीं, रस का वाचक शब्दों द्वारा कथन एक रसदोष भी माना जाता है—रस केवल प्रतीत होता है। दूसरे, जैसा कि अभी व्यञ्जना के विषय में कहा गया है, उसी उक्ति का वाच्यार्थ रसप्रतीत नहीं कराता, केवल अर्थबोध कराता है। रस सहृदय की हृदयस्थिति वासना की आनन्दमय परिणति है जो अर्थबोध से भिन्न है अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दों में व्यञ्जना या ध्वनन होता है। इसी तर्क से ध्वनिकार ने उसे केवल रस न मानकर ध्वनि माना है।

ध्वनि के अनुसार काव्य के भेद

ध्वनिवादियों ने काव्य के तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम इस वर्गक्रम का आधार स्पष्टतः ध्वनि और व्यङ्ग्य की सापेक्षिक प्रधानता मानता है। उत्तम काव्य में व्यङ्ग्य की प्रधानता रहती है अर्थात् उसमें वाच्यार्थ ककी अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ प्रधान रहता है, उसी को ध्वनि कहा गया है। ध्वनि के भी अर्थात् उत्तम काव्य के भी तीन भेदक्रम हैं : रसध्वनि, अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि। इसमें रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। मध्यम काव्य को गुणीभूतव्यङ्ग्य भी कहते हैं। इसमें व्यङ्ग्यार्थका अस्तित्व तो अवश्य होता है, परन्तु वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय नहीं होता—वरन् समान रमणीय या कम रमणीय होता है, अर्थात् उसकी प्रधानता नहीं रहती। अधम काव्य के अन्तर्गत चित्र आता है जो वास्तव में काव्य है भी नहीं। उसमें व्यङ्ग्यार्थका अस्तित्व ही नहीं होता और न अर्थगत चारुत्व ही होता है। ध्वनिकार ने उसकी अधमता स्वीकार करते हुए भी काव्य की कोटि में उसे स्थान दे दिया है—परन्तु रस का सर्वथा अभाव होने के कारण अभिनव ने और उनके बाद विश्वनाथ ने उसको काव्य की श्रेणी से पूर्णतः बहिर्गत कर दिया है। इस प्रकार ध्वनि के अनुसार काव्य का उत्तम रूप है ध्वनि और ध्वनि में भी सर्वोत्तम है रसध्वनि। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे उत्तमोत्तम भेद कहा है, अर्थात् रस या रसध्वनि ही काव्य का सर्वोत्तम रूप है। दूसरे शब्दों में रस ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। शास्त्रीय दृष्टि से रस और ध्वनि का यही सम्बन्ध एवं तारतम्य है।

ध्वनि में अन्य सिद्धान्तों का समाहार

ध्वनिकार अपने सम्मुख दो उद्देश्य रखकर चले थे : एक ध्वनि सिद्धान्त की निर्भ्रान्त स्थापना, दूसरा अन्य सभी प्रचलित सिद्धान्तों का ध्वनि में समाहार। वास्तव में ध्वनि सिद्धान्त की सर्वमान्यता का मुख्य कारण भी यही हुआ। ध्वनि को उन्होंने इतना व्यापक बना दिया कि उसमें न केवल उनके पूर्ववर्ती रस, गुण, रीति, अलङ्कार आदि का ही समाहार हो जाता था वरन् उनके परवर्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नहीं जा सकते थे। इसकी सिद्धि दो प्रकार से हुई—एक तो यह कि रस की भाँति गुण, रीति, अलङ्कार, वक्रता आदि भी व्यङ्ग्य ही रहते हैं। वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणों का कथन होता है, न वैदर्भी आदि रीतियों का, न उपमा आदि अलङ्कारों का और न वक्रता का ही। ये सब ध्वनिरूप में ही उपस्थित रहते हैं दूसरे गूण रीति अलङ्कार आदि तत्त्व प्रयच्छतः अर्थात् सधे वाक्यार्थ द्वारा मनेको आहाद नहीं देते अतएव ये सब ध्वन्यर्थ के सम्बन्ध से उसी का उपकार करते हुए अपना अस्तित्व सार्थक करते हैं। इसके अतिरिक्त इन सब का महत्त्व भी अपने प्रत्यक्ष रूप के कारण नहीं है वरन् ध्वन्यर्थ के ही कारण है क्योंकि जहाँ ध्वन्यर्थ नहीं होगा वहाँ ये आत्माविहीन पञ्चतत्त्वों अथवा आभूषणों आदि के समान ही निरर्थक होंगे। इसलिए ध्वनिकार ने उन्हें ध्वन्यर्थरूप अङ्गी के अङ्ग ही माना है। इनमें गुणों का सम्बन्ध चित्त की द्रुति, दीप्ति, आदि से है, अतएव वे ध्वन्यर्थ के साथ (जो मुख्यतः रस ही होतता है) अन्तरङ्ग रूप से सम्बद्ध है जैसे कि शौर्यादि आत्मा के साथ। रीति अर्थात् पदसङ्घटनाका सम्बन्ध शब्द—अर्थ से है इसलिए वह काव्य के शरीर से सम्बद्ध है। परन्तु फिर भी जिस प्रकार की सुन्दर शरीरसंस्थान मनुष्य के बाह्य व्यक्तित्व की शोभा बढ़ाता हुआ वास्तव में उसकी आत्मा का ही उपकार करता है इसी प्रकार रीति भी अन्ततः काव्य की आत्मा का ही उपकार करती है। अलङ्कारों का सम्बन्ध भी शब्द—अर्थ से ही है। परन्तु रीति का सम्बन्ध स्थिर है, अलङ्कार का अस्थिर—अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि सभी काव्यशब्दा में अनुप्रास या किसी अन्य शब्दालङ्कार का, और सभी प्रकार के काव्यार्थों में उपमा या किसी अन्य अर्थालङ्कार का चमत्कार नित्य रूप से वर्तमान ही हो। अलङ्कारों की स्थिति आभूषणों की—सी है जो अनित्यरूपस शरीर की शोभा बढ़ाते हुए अन्ततः आत्मा के सौन्दर्यम ही वृद्धि करते हैं। क्योंकि शरीर सौन्दर्य की स्थिति आत्मा के बिना सम्भव नहीं है—शिव के लिए सभी आभूषण व्यर्थ होते हैं। (यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ध्वनिकार ने अलङ्कार का संकुचत अर्थ में ग्रहण किया है। अलङ्कार का व्यापक रूप में ग्रहण करने पर; अर्थात् उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के उक्ति—चमत्कार का ग्रहण करने पर चाह उसका नामकरण हुआ या नहीं, चाहे वह लक्षणा का चमत्कार हो अथवा व्यञ्जना का, जैसा कि कुन्तकन वक्रोक्ति के विषय में किया गया है, उसका न तो शब्द—अर्थ का अस्थिर धर्म सिद्ध करना ही सरल है, और न अलङ्कार—अलङ्काय में इतना स्पष्ट भेद ही किया जा सकता है।)

ध्वनि और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

सबसे पहले मनोविज्ञान की दृष्टि से ध्वनि के आधार और स्वरूप पर विचार कीजिये। मनोविज्ञान के अनुसार कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रोगात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है। संवेद्य बनाने का अर्थ यह है कि उसको इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सहृदय को केवल उसका अर्थबोध ही नहीं होता वरन् उसके हृदय में समान रोगात्मक अनुभूति का संचार भी हो जाता है। इस रीति से कवि सहृदय को अपने हृदय रस का बोध न कराकर संवेदन कराता है। इसका

तात्पर्य यह हुआ कि सहृदय की हृष्टि से रस संवेद्य है, बोधव्य अर्थात् वाच्य नहीं। यह सिद्ध हो जाने के बाद, अब प्रश्न उठता है कि कवि अपने हृदय रस को सहृदय के लिए संवेद्य किस प्रकार बनाता है? इसका उत्तर है : भाषा के द्वारा। परन्तु उसे भाषा का साधारण प्रयोग न कर (क्योंकि हम देख चुके हैं कि साधारण प्रयोग तो केवल अर्थबाध ही कराता है) विशेष प्रयोग करना पड़ता है अर्थात् शब्दों को साधारण 'वाचकरूप' में प्रयुक्त न कर विशेष 'चित्ररूप' में प्रयुक्त करना पड़ता है। चित्ररूप से तात्पर्य यह है कि वे श्रोता के मन में भावना का जो चित्र जगाये वह क्षीण और धूमिल न होकर पुष्ट और भास्वर हो; और यह कार्य कवि की कल्पना शक्ति की अपेक्षा करता है क्योंकि कवि कल्पना की सहायता के बिना सहृदय की कल्पना में यह चित्र साकार कैसा होगा ? उसके लिए कवि को निश्चय ही अपने शब्दों को कल्पनागर्भित करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि यह 'विशेष प्रयोग' भाषा का कल्पनात्मक प्रयोग है। अपनी कल्पनाशक्ति का नियोजन करके कवि भाषा शब्दों को एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उन्हें मुनकर सहृदय को केवल अर्थबोध ही नहीं होता वरन् उसके मन में एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है जो परिणति की अवस्था में पहुँचकर रस संवेदन में विशेषतया सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यञ्जना' और रस के इस संवेद्य रूप को ही 'रसध्वनि' कहा है। ध्वनिस्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पना तत्त्व के महत्त्व की प्रतिष्ठा की है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में ध्वनि का सीधा विवेचन ढूँढना तो असङ्गत होगा क्योंकि पश्चिम की अपनी पृथक् जीवनहृष्टि एवं संस्कृति और उसके अनुसार साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान आदि के प्रति अपना पृथक् हृष्टिकोण रहा है। परन्तु मानव जीवन की मूलभूत एकता के कारण जिस प्रकार जीवन के अन्य मौलिक तत्त्वों में अनेक प्रकार की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष समानताएँ मिति हैं, इसी प्रकार साहित्य और कला के क्षेत्र में भी मूल तत्त्व अत्यन्त भिन्न नहीं है।

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, ध्वनि का सिद्धान्त मूलतः कल्पना की महत्त्व स्वीकृति ही है और कल्पना का प्रभुत्व पश्चिमी काव्यशास्त्र में आरंभ से ही रहा है। पश्चिम के आचार्य प्लेटो हैं, उन्होंने अप्रत्यक्ष विधि से काव्य में सत्य के आधार की प्रतिष्ठा की। परन्तु वे विज्ञान के सत्य और काव्य के सत्य का अन्तर स्पष्ट नहीं कर सके—उन्होंने बुद्धि के (दर्शन के) सत्य और कल्पना के सत्य को एक मानते हुए काव्य और मानते हुए काव्य और कवि के साथ घोर अन्याय किया। प्लेटो ने काव्य को अनुकृति माना—वह भौतिक पदार्थों या घटनाओं का अनुकरण करता है, और भौतिक पदार्थ एवं घटनाएँ आध्यात्मिक (ideal) पदार्थों और घटनाओं की प्रकृतिमात्र हैं। और चूँकि वास्तविक सत्य आध्यात्मिक घटनाएँ ही हैं, अतएव कवि की रचना सत्य की भौतिक प्रतिकृतिकी प्रतिकृति है और उस पर भी विकृति है। भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में उन्होंने वाच्यार्थ को ही काव्य में मुख्य मान लिया, व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति वे नहीं कर सके। और, इसीलिए वे काव्य की आत्मा को व्यक्त नहीं कर पाये। दार्शनिक धरातल पर प्लेटों के उपर्युक्त सिद्धान्तों में बहुत-कुछ भारतीय दर्शन के अभिव्यक्तिवाद और व्याकरण के स्फोट वाद का आभास मिलता है जिनसे भारतीय आचार्यों को ध्वनि सिद्धान्त की प्रेरणा मिली थी। यह एक विचित्र संयोग है कि इनकी दार्शनिक अनुभूति होने पर भी प्लेटो काव्य का रहस्य समझने में असमर्थ रहे।

प्लेटो की त्रुटिका समाधान अरस्तूने किया। उन्होंने भी प्लेटों की भाँति काव्य को अनुकृति ही माना। परन्तु उन्होंने अनुकृतिका अर्थ प्रतिकृति न करते हुए पुननिर्माण

अथवा पुनःसृजन किया। प्लेटोंकी धारणा थी की काव्य वस्तु कि विषयगत प्रतीगती हैं परन्तु अरस्तूने उसे वस्तुका कल्पनात्मक पूनर्निर्माण अथवा पुनःसृजन माना गया। कवि कथन नहीं करता प्रस्तुत करता हैं और श्रोता या पाठक तदनुसार वस्तुके प्रत्यक्षरूपको ग्रहण नहीं करता वरन कविमानसजात रूप को ग्रहण करता है शूकलजी के शब्दों में वह कविकि उक्तिका अर्थ ग्रहण नहीं करता बिम्ब ग्रहण करता है। इस प्रकार अरस्तू ने ध्वनि या व्यङ्ग्य आदि शब्दों का प्रयोग न करते हुए भी काव्यार्थ को वाच्य न मानकर व्यङ्ग्य ही माना है। उनकी 'मिमैसिस'—अनुकरण की व्याख्या में "वस्तु के कल्पनात्मक पुनःसृजन" का अर्थ विभाव, अनुभाव, आदि के द्वारा (वस्तु से उद्बुद्ध) भाव की व्यञ्जना ही है। इस प्रकार अरस्तू के सिद्धान्त में प्रकारान्तर से ध्वनि की स्वीकृति असन्दिग्ध है।

ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनि सम्प्रदाय का प्रवर्तन वस्तुतः आनन्दवर्धन ने ही किया था यद्यपि विनम्रतावश उन्होंने इसे पूर्वाचार्यो का मत कहा है। ध्वनि का आधार प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ है जो गुण, अलंकार आदि से भिन्न है; वही ध्वनि काव्यात्मा है (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।) प्रतीयमान अर्थ काव्य में स्वीकृत परम्परागतत उपदानों से उसी प्रकार भिन्न है जैसे किसी रमणी का सौन्दर्य उसके अवयवों से भिन्न होता है। इस अर्थ के त्रैविध्य के कारण ध्वनि भी त्रिविध है — वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि। अन्य तत्त्व ध्वनि के उपकारक होते हैं। ध्वनि का प्रयोग पाँच अर्थों में हुआ है— व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना—व्यापार तथा व्यङ्ग्यप्रधान काव्य। आनन्दवर्धन ने वाच्यार्थ और वाचक शब्द के गुणीभूत हो जाने पर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति करानेवाले काव्य को 'ध्वनि' कहा है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो ।

व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ (1/13)

आनन्दवर्धन की दृष्टि में दो ही काव्यभेद हैं—ध्वनि (व्यङ्ग्यार्थप्रधान) तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य (जिसमें व्यङ्ग्यार्थ रहे किन्तु वाच्यार्थ से बढ़कर न हो)। उनकी दृष्टि में चित्रकाव्य (शब्द या अर्थ के चमत्कार से भरा, व्यंग्यार्थशून्य) काव्य का अनुकरण मात्र है, वह मुख्य रूप से काव्य नहीं होता (न तन्मुख्यं काव्यम्, काव्यानुकारो हासौ—ध्वन्यालोक 3/46 वृत्ति)। मम्मट ने यद्यपि आनन्दवर्धन का अनुसरण काव्यभेदों के विवेचन में किया किन्तु समन्वयवादी प्रवृत्ति के कारण वे चित्रकाव्य को काव्यसंज्ञा से वञ्चित नहीं कर सके, निन्दा भले ही की।

आनन्दवर्धन (850 ई.) से लेकर मम्मट (1050 ई. से 1100 ई.) तक के काल में ध्वनि के पक्ष—विपक्ष में शास्त्रार्थ होते रहे। आनन्दवर्धन ने सवयं आठ प्रकार के ध्वनि विरोधियों की सम्भावना प्रकट की थी— (1) तीन प्रकार के अभाववादी (= ध्वनि नामक तत्त्व नहीं होता), (2) भक्तिवादी (ध्वनि लक्षणावृत्ति से भिन्न नहीं है) तथा अनिर्वचनीयतावादी (ध्वनि है किन्तु इसे प्रकट नहीं किया जा सकता)। ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में इन सब पक्षों का स्पष्ट खण्डन किया ठें इस अन्तराल में महिभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' की रचना ही इसलिए की कि ध्वनि के सभी उदाहरणों को अनुमान का विषय सिद्ध करें। भट्टनायक ने 'हृदयदर्पण' (अनुपलब्ध) में व्यञ्जना का खण्डन करके, रस के आस्वादनार्थ 'भावकत्व एवं भोजकत्व' नामक शब्दवृत्तियों की कल्पना की। उधर कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के भेदविशेष में रखकर इसका महत्त्व कम

किया। रुय्यकक कृत 'अलंकारसर्वस्व' की टीका में जयरथ ने ध्वनि-विरोधी 12 मतों का संग्रह किया है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पञ्चम उल्लास में तथा विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' के पञ्चम परिच्छेद में व्यञ्जना की स्थापना के क्रम में ध्वनिविरोधियों का प्रबल खण्डन किया है। तदनुसार ध्वनि का स्थान अभिधा या लक्षण वृत्ति नहीं ले सकती। हेत्वाभासों की उपस्थिति के कारण इससे अनुमान नहीं कह सकते।

ध्वनि को काव्यात्मा मानने से गुण, अलंकार, रीति आदि सभी उपादान काव्य में अपना-अपना समुचित स्थान पा लेते हैं। व्याकरण के अंगों (जैसे उपसर्ग, निपात, प्रकृति, प्रत्यय, समास वाक्य आदि) का भी समावेश ध्वनि के क्षेत्र में होता है क्योंकि इनके कारण भी ध्वनि होती है। रस के अतिरिक्त वस्तु और अलंकार में भी ध्वनि रहती है। अतः काव्य का क्षेत्र 'रसात्मकं काव्यम्' की अपेक्षा बढ़ जाता है। केवल रस ही नहीं, वस्तु और अलंकार का सौन्दर्य भी काव्य की सीमा में आ जाता है। ध्वनि-प्रस्थान में रस को उत्कृष्ट पद प्राप्त है किन्तु उसके अभाव में भी काव्य हो सकता है यदि उक्त सौन्दर्य प्रकट हो। इस प्रकार यह प्रस्थान ग्राह्यता की दृष्टि में सर्वोत्तम है।

औचित्यसम्प्रदाय

इसका प्रवर्तन अभिनवगुप्त के शिष्य और अनेक ग्रन्थों के लेखक क्षेमेन्द्र ने किया। क्षेमेन्द्र ने अपनी 'औचित्यविचारचर्चा' में कहा है कि जिस प्रकार शरीर को अलंकारों के उचित प्रयोग से ही सुन्दर बनाया जाता है तथा अनुचित प्रयोग हास्यास्पद बना देता है, उसी प्रकार काव्य में भी गुण, अलंकार, रस आदि का उचित निवेश ही काव्य का प्राण है। इन काव्योपदानों के प्रयोग में गड़बड़ी (अनौचित्य) होने से काव्य हास्य का पात्र हो जायेगा। क्षेमेन्द्र की मूल उक्ति है—

अलङ्कारास्तवलङ्कारा गुणा एवं गुणाः सदा।

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥

(औचित्यविचारचर्चा, का. 5)

क्षेमेन्द्र औचित्य के अन्तर्गत अनेक विषयों को रखकर उन्हें पाँच वर्गों में विभक्त किया है। कुल सत्ताइस विषय हैं जहाँ औचित्य का ध्यान रखना चाहिए— (i) पद, वाक्य तथा प्रबन्ध का औचित्य मीमांसा-दर्शन का विषय है। (ii) गुण, अलङ्कार और रस-विषयक औचित्य के लिए काव्यशास्त्र प्रमाण है। (iii) क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात तथा काल— इन आठ विषयों का औचित्य व्याकरण की परिधि में है। (iv) देश, कुल और व्रत ये तीन विषय लौकिक हैं जिनका औचित्य लोकव्यवहार पर आश्रित है। (v) शेष दस विषय हैं— तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम तथा आशीर्वाद। इनका सम्बन्ध स्वयं विषय से है, इनके औचित्य का उत्तरदायित्व कवि पर ही है।

औचित्य को काव्य का प्रधान तत्त्व कहने की प्रेरणा अपने पूर्वाचार्यों से ही क्षेमेन्द्र को मिली थी। आनन्दवर्धन ने अलंकारों के औचित्य (अपृथग्यत्र-निर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः) तथा रस के औचित्यमूलक रस पर प्रकाश डाला था—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसमङ्गस्य कारणम्।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिशत्परा॥

वस्तुतः धन्यालोक का तृतीय उद्योत काव्य के सभी उपदानों के औचित्य का विवरण देने के कारण क्षेमेन्द्र के लिए परम प्रेरक स्थल रहा होगा। क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य में चमत्कार लाकर उसे आस्वाद्य बनाते हुए रस के प्राणरूप में अवस्थित होना औचित्य की विशिष्टता है।

समस्त लोक में व्याप्त औचित्य काव्य में भी व्याप्त है, अत एव यह काव्य का प्राण है। यद्यपि वह काव्य का अनिवार्य तत्त्व है किन्तु उसे आत्मा नहीं की सकते। साध्य होने पर ही कोई पदार्थ आत्मा कहलाता है। काव्य-रचना औचित्य को साध्य को (लक्ष्य) बनाकर नहीं होती। रसानुभूति के लिए औचित्य साधन है, न कि औचित्य की प्राप्ति के लिए रसादि होते हैं। औचित्य वस्तुतः कविशिक्षा के लिए उपकरण-मात्र है, रचना के अभ्यास के समय कविगण इस पर ध्यान रखते हैं। रसानुभूति के समय तो औचित्य पर ध्यान जाता ही नहीं। हाँ, इसका अभाव (अनौचित्य) रहने पर सहृदय को उद्वेग अवश्य हो जाता है इसलिए ऐसे तत्त्व को काव्यात्मा कैसे कह सकते हैं जिसकी सत्ता से अधिक अभाव पर ही ध्यान जाये? स्वयं क्षेमेन्द्र समझते थे कि काव्य का प्राण तो कोई अन्य तत्त्व है, औचित्य उसे स्थिर रखता है।

इन सभी प्रस्थानों में व्यापकता ध्वनि-प्रस्थान की है; काव्य के उत्कर्ष की व्याख्या रसप्रस्थान करता है किन्तु ध्वनि में वह भी गतार्थ हो जाता है।

भामह स्थान भरत के अनन्तर प्रथम आचार्य के रूप में समादृत है। इन्होंने 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ की रचना करके 'अलङ्कार-प्रस्थान' का प्रवर्तन किया था। यह ग्रन्थ शुद्ध काव्यशास्त्रीय है (क्योंकि नाट्यशास्त्र तो मुख्यतः दृश्यकाव्य)

26.4 सारांश

इस इकाई में आप संस्कृत साहित्य में —ध्वनि सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदाय के महत्त्व के विषय में विशेष रूप से वर्णन किया गया है। ध्वनि की व्यापकता का दूसरा प्रमाण यह है कि उसकी सत्ता उपसर्ग और प्रत्यय से लेकर सम्पूर्ण महाकाव्य तक है। पदविभक्ति, क्रियाविभक्ति, वचन, सम्बन्ध, कारक, कृत् प्रत्यय, तद्धित प्रत्यय, समास, उपसर्गनिपात, काल आदि से लेकर वर्ण, पद, वाक्य, मुक्तक पद्य और महाकाव्य तक उसके अधिकारक्षेत्र का विस्तार है। ध्वनिवादियों ने काव्य के तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम इस वर्गक्रम का आधार स्पष्टतः ध्वनि और व्यङ्ग्य की सापेक्षिक प्रधानता मानता है। उत्तम काव्य में व्यङ्ग्य की प्रधानता रहती है अर्थात् उसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ प्रधान रहता है, उसी को ध्वनि कहा गया है। ध्वनि के भी अर्थात् उत्तम काव्य के भी तीन भेदक्रम हैं : रसध्वनि, अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि। इसमें रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। मध्यम काव्य को गुणीभूतव्यङ्ग्य भी कहते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे उत्तमोत्तम भेद कहा है, अर्थात् रस या रसध्वनि ही काव्य का सर्वोत्तम रूप है। दूसरे शब्दों में रस ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। शास्त्रीय दृष्टि से रस और ध्वनि का यही सम्बन्ध एवं तारतम्य है।

26.5 शब्दावली

शब्द

अर्थ

अलङ्कारः	अलङ्कार
गुणाः	गुण
सदा	हमेशा
औचित्यं	औचित्य
रससिद्धस्य	रससिद्ध का काव्यस्य काव्य का

26.6 सन्दर्भ—ग्रन्थ सूची

- 1) पुस्तक का नाम—संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रकाशक का नाम— चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी, लेखक का नाम— उमाशंकर शर्मा ऋषि, सम्पादक का नाम—उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रकाशक का नाम— चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी
- 2) संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – वी.वी. काणे, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, काव्यमाला सिरीज ।
- 3) संस्कृत शास्त्रों का इतिहास – बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
- 4) संस्कृत साहित्य का इतिहास – वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

26.7 बोध प्रश्न

- 1) प्रश्न—ध्वनि सम्प्रदाय परिचय दीजिये
- 2) औचित्य का सामान्य परिचय कीजिये
- 3) औचित्य सम्प्रदाय का सामान्य कीजिये

26.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

- 1) पुस्तक का नाम—संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रकाशक का नाम— चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी, लेखक का नाम— उमाशंकर शर्मा ऋषि, सम्पादक का नाम—उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रकाशक का नाम— चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी ।
- 2) पुस्तक का नाम— वैदिक साहित्य, लेखक का नाम— कपिलदेव द्विवेदी, प्रकाशक का नाम— चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी ।